ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
ISSN No.: 2347-2944, RNI TITLED No. :UPBIL04292,
RNI REG. No.: UPBIL/2014/66218, SOCI.REG. No.: 561/2013-14 Vol.-5, No.-II, PP-264-269,YEAR- DEC.2016

प्रेमचन्द का साहित्य और सिनेमा

❑ डॉ0 संतोष कुमार सिंह

साहित्य और कला का सम्बन्ध गहरा और परस्पर सम्बद्धता पर निर्भर है। अपने प्रारम्भिक दौर से ही साहित्यकारों ने साहित्य को लोकमंगल और लोकरंजन का विश्व बनाया। पर समय बीतने के साथ साहित्य में जीवन के अन्य पक्षों को भी शामिल किया गया। ठीक उसी तरह से सिनेमा ने पहले मनोरंजन को अपना आधार बनाया और आगे चलकर कला के अन्य माध्यमों से जुडकर जीवन के व्याापक पारिदृश्य को प्रस्तुत करने लगा। साहित्य पर फिल्म का निर्माण एक पुनर्रचना की तरह है। जहां साहित्य को एक नए माध्यम के लिए पुनः रचा जाता है।

प्रेमचन्द और सिनेमा में लगाव का एक प्रमुख कारण यह था कि प्रेमचन्द अपने कथ्य को कला के लोकप्रिय माध्यम यानी सिनेमा के जरिये बड़ें जनसमूह से जोड़ना चाहते थे। उनका यह रिश्ता महज लेखक, दर्शक और पाठक तक सीमित न था, बल्कि वे कला को जीवन से जुड़ा मानते थे। जिन मूल्यों के साथ वे साहित्य में जी रहे थे, उन्हीं के साथ सिनेमा में भी जीने के आकांक्षी थे।

दरसअल, यह एक स्वाभाविक स्थिति है कि साहित्य में प्रतिष्ठित रचनाकार जब सिनेमा की ओर रूख करता है, तो हमारी अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं। अतः जब प्रेमचन्द सिनेमा से जुड़े तो हमें ऐसा लगने कि उन्होंने जिस तरह साहित्य को लोकप्रिय बनाया उसी तरह वे सिनेमा से जुड़े तो हमें ऐसा लगने लगा कि उन्होंने जिस तरह साहित्य को लोकप्रिय बनाया उसी तरह वे सिनेमा में भी कर पाएँगे। पर पूर्णतः ऐसा नहीं हो पायां प्रेमचन्द का सिनेमा–प्रेम निश्चित तौर पर प्रशंसनीय है, पर जितना उनका साहित्य प्रभावी और पठनीय हुआ उस तरह की जनप्रियता उनकी रचनाओं पर बनी फ़िल्मों को नही मिली।

प्रेमचन्द ने सिनेमा को साहित्य की तरह मूल्यों से जोड़कर देखा है। वे उसे महज व्यवसाय नहीं मानते, बल्कि समजा पर सर्वाधिक त्वरित प्रभाव छोड़ने वाला माध्यम मानते हैं। प्रेमचन्द ने लिखा है–'खेद है कि इसे (सिनेमा को) कोरा व्यवसाय बनाकर हमने उसे कला के ऊँचे आसन सी खींचकर ताड़ी या शराब की दुकान तक पहुँचा दिया है।" आज प्रेमचन्द की यह आशंका सच बन चुकी है। सिनेमा विशुद्ध मनोरंजन और बाजार द्वारा संचालित एक मुनाफेदार माध्यम बन गया है।

प्रेमचन्द ने सिनेमा को आनन्द से जोड़ने का प्रयत्न किया पर सिनेमा के अधिकांश लोगों ने इसे उत्तेजना से जोड़ा। ये सामाजिक सरोकारों को प्राथमिकता देते हैं। वे सामाजिक समस्याओं को एक संकट के रूप में चिन्हित करते हैं। वे चाहते थे कि अच्छें विचारों और मूल्यों को सिनेमा के माध्यम से जन–जन तक पहुँचाया जाए, पर वास्तव में ऐसा हो नहीं पाया। सिनेमा ने भोगवादी और रूणवादी प्रवृत्तियों को ज्यादा प्रोत्साहन दियां, मूल्य का लक्ष्य भोग और सन्तुष्टि पर आकर टिक गया, परिणामस्वरूप 1934 में बनी फिल्में 'नवजीवन' और 'सेवासदन' फ्लॉप हो गईं। व्यावसायिक सिनेमा के इस सच का भान सम्भवतः प्रेमचन्द को न था कि साहित्य जन–रूचि का पथ–प्रदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जन–रूचि के पीछे चलता है, जनता जो कुछ मांगे वही देता है।

हम जानते हैं कि साहित्य को सिनेमा में उतारना आसान काम न था। प्रेमचन्द का मानना हैं कि सिनेमा में साहित्य को प्रतिश्ठित करना एक लम्बी प्रक्रिया का मामला है। वे लिखते हैं – 'अभी

❑ ऐसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्री सुदृष्टि बाबा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुदिष्टपुरी–रानीगंज, बलिया (उ0प्र0) भारत

वह जमाना बहुत दूर है, जब सिनेमा और साहित्य का रूप एक होगा। लोकरूचि जब इतनी परिष्कृत हो जाएगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीजों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरूचि दिखाई पड़ सकती है।' प्रेमचन्द का साहित्य सामाजिक मूल्यों की पक्षधरता के साथ है, जबकि सिनेमा का मूल्य समाज को मनोरंजन प्रदान कराने के साथ। साहित्य का सम्बन्ध भाषा के जरिये संवेदना को व्यक्त करना है, जबकि सिनेमा का अपना व्याकरण है, जो मोटे तौर पर तकनीकी आधारित है। इसलिए आज भी सिनेमा ने साहित्यिक भाव को व्यक्त करने में उतनी दक्षता अर्जित नहीं की है, जो उसे करनी चाहिए थी।

'सेवासदन', 'गोदान', 'त्रिया–चरित्र', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'सद्गति' और 'कफ़न' आदि प्रेमचन्द की महत्वपूर्ण रचनाएँ है, जिन्हें फिल्मकारों ने रूप पहले पर्दे पर उतारा। ऐसी रचना को सिनेमा में उतारने का अर्थ यह है कि तत्कालीन समाज का यथार्थ सिनेमा के जरिये चिन्तन का विशय बन सके। प्रेमचन्द की रचनाओं का फिल्म रूपान्तरण विभिन्न कारणों से चुनौतीपूर्ण पर साहसिक काम है, क्योंकि साहित्य का कैनवास बड़ा है, जिसे महज ढ़ाई घंटे में एक फिल्म के जरिये उतारना मुश्किल है। यही वजह है कि हिन्दी में साहित्यिक फिल्मों का अभाव है। फलस्वरूप फिल्मकार प्रेमचन्द के समाज को सिनेमा में उस अर्थ में प्रस्तुत नही कर पाए, जैसा उन्हें करना चाहिए था। पर यह भी सच है कि प्रेमचन्द की रचना पर बनी फ़िल्मों ने प्रेमचन्द के विचारों और मूल्यों को दृश्यात्मक बनाकर व्यापक जनसमूह से जोड़ने का काम किया।

सबसे पहले मैं प्रेमचन्द की कालयजी रचना 'शतरंज' के खिलाड़ी पर बनी, फिल्म का चर्चा करना चाहता हूँ। इस कहानी का जो कथ्य है, निश्चित तौर पर सामन्तवाद के पतन की कथा है। जिसमें लखनऊ के तत्कालीन समाज के वैशिष्ट्य और जीवनशैली की झाँकी है, जिसे सत्यजीत रे ने बखूबी समझा और इसकी समझ रखने वाली अब्दुल हलीम शरर को पटकथा लिखने का जिम्मा दिया, तॉकि कहानी में जो लखनऊ है उसे प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकें। कहानी लड़लखड़ाती हुई नवाबी दुनिया की एक बहुत ही नाजुक और दुखती हुई रग पर उँगली रखती है – 'नवाब वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे... शहर में न कोई हलचल थी, न मारकाट। एक बूंद भी खन नही गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह खून बहे बिना नहीं हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था जिस पर बड़े–बड़े शायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बंदी चला जाता था और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधः पतन की चरम सीमा था। (आगे चलकर) उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था, पर वैयक्तिक वरीता का अभाव न था।'' यॉनी प्रेमचन्द मनुश्य की बाहरी और भीतरी दुनिया को लेकर काफी सचेत रहे हैं। 'वे एक अपेक्षा दूसरे को कम महत्वपूर्ण नही मानते बाहरी और भीतरी के बीच जटिल अंत सम्बन्धों को बारीकी से टटोलते और चित्रित करते हैं।' सत्यजीत रे ने प्रेमचन्द के इस भाव को बखूबी पकड़ा है, एक ओर भाव दश्ज्ञा, पात्रों वस्तुकलाा, परिवेश और संवेगात्मक स्थितियों के दृश्यात्मक विवरण तो दूसरी ओर कलाकारों की भाव–भंगिमा तक के विस्तृत चित्रण 'शतरंज के खिलाड़ी' को एक बेहतरीन प्रस्तुति बनाते हैं, जबकि यह एक कठिन काम था। इस सन्दर्भ में कुँवर नारायण ने लिखा है–'प्रेमचन्द की कहानियाँ ऊपर से सरल दिखती हैं, पर अन्दर से उनमें अर्थों और अर्थध्वनियों की, जो कई तहें डोलती रहती हैं। उन्हें फिल्म जैसे चाक्षुश माध्यम से पकड़ना आसान नहीं : ऐसे में कहानियों को भरसक ज्यों–का–त्यों प्रस्तुत करना शायद उनके मूल तत्वों तक पहुँचा सनके में ज्यादा मददगार हो।''

यहाँ यह देखना और जानना दिलचस्प होगा कि एक ओर कहानी में पतनशील नवाबी संस्कृति है, जिसके बारे में पढ़ते हुए हमारे मन में नवाब को लेकर एक नकारात्मक भाव पैदा होता है। पर जब पर्दे पर नवाबी संस्कृति के सुरूचिपूर्ण चित्र और

कला प्रेमी के रूप में नवाब का चित्र उभरता है, तो यहाँ भाव थोड़ा परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि कहानी के दृश्य में अनुपस्थित होता है और पाठक चिन्तन से चीजों को मूर्त करता है। पर सिनेमा में चिन्तन के बजाय दृश्य काा प्रभाव होता है। ऐसे में परिवेश का दृश्यात्मक तथ्य हमें थोड़ा लिबरल बना देता है। यॉनी प्रेमचन्द जिस पतनशीलता का जिक्र करते हैं, उसके प्रभाव में कमी आ जाती है।

शतरंज के खिलाड़ी के प्रमुख पात्रों मिर्जा और मीर कहानी में जितने रोचक और दयनीय दिखते हैं, फिल्म में मिर्जा की नपुसंकता और मीर की बीबी का दूसरे मर्दों के साथ रैंगरैलियों मनाना हास्यस्पद है। प्रेमचन्द की कहानी का तनाव फिल्म के अधिकांश हिस्सों से नदारद है। यह अलग बात है कि निर्देशक अपने इतिहास सम्मत विवेक के चलते इस छोटी और आसान सी लगती कहानी में कई बार रचनात्मक छूट लेता है। सत्यजीत रे के लिए 'शतरंज के खिलाड़ी' एक अनोखी फिल्म भी बन जाती है, जब वे इस फिल्म को दो ध्रुवातों के बीच एक समानान्तर फासले के साथ फिल्माते हैं। फिल्म दो स्तरों पर हमसे रूबरू होती है– पहला वृत्तचित्र के रूप में, दूसरा कथेतर के रूप में। इसी कारण इतिहास और गल्प को सत्यजीत रे यहाँ कलात्मक विवरणों की ओट में प्रासंगिक अर्थ दे पाते हैं। परस्पर दो सहयोगी कलाओं की आपसी समझदारी के चलते फिल्म का मुहावरा नई सम्भावनाओं को तलाशने का बहाना तो बना देता है, मगर मिर्जा मीर और नवाबी दिनों अधःपतन का प्रतीक बन चुका लखनऊ शहर दम तोड़ता नजर आता है। यह सत्यजीत रे की सीमा हो सकती है, लेकिन यदि हम सिने माध्यम की शर्तों पर प्रेमचन्द की कहानी को परखें तो थोड़ा हिचकते हुए यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यहां आकर फिल्म कला के लिए प्रेमचन्द की कहानी भी एक निश्चित चौहद्दी तब कर लेती है। कहानी की इस सीमा की वजह से कथा के पात्र वैसा मुखर स्वर पर्दे पर नहीं दे पाते, जैसा वे अपने माध्यम में भाषा की सहायता से आसानी से दर्ज करा देते हैं।'

यॉनी माध्यम जैसे ही बदलता है, कहानी का तथ्य भी बदलता है। साहित्य का पाठक जब कहानी के बाहरी और भीतरी परिवर्तन को सिनेमा में देखता है, तो उसे कहानी की मूल संरचना में बदलाव दिखने लगता है। निःसन्देह 'शतरंज के खिलाड़ी' पर बनी फिल्म कला माध्यम के बदलाव के साथ दर्शकों के समक्ष आती है। इस सन्दर्भ में कुँवर नारायण ने कहा है–'शतरंज के खिलाड़ी फिल्म में नवाबी जमानों की लकदक है, पर उसके बीच शायद उस गहरी मानवीय त्रासदी को भी पढ़ सकना मुश्किल नहीं, जिसे सत्यजीत रे केवल राजनीतिक, सामाजिक ढाँचे में ही नही ढालते, मनुष्य की चारित्रिक ख़ूबियो और ख़ामियों में भी चित्रित करते हैं। ... 'शतरंज के खिलाड़ी' न तो पूरी तरह प्रेमचन्द की कहानी है, न ही पूरी तरह सत्यजीत रे की फिल्म है, यह दो भिन्न तरह की कलाओं और उन कलाओं की दो बेजोड़ प्रतिभाओं के बीच एक दिलचस्प संवाद है'

'सदगति' प्रेमचन्द की महत्वपूर्ण कहानी है। इस पर बनी फिल्म समतल गति से आगे बढ़ती है। यॉनी कहानी का कथ्य सिनेमा में लगभग फिट हो गया है। कहानी का पाठक 'सद्गति' को देखकर आश्वस्त हो सकता है कि साहित्य के मूल्य को बाधित किए बिना भी फ़िल्म निर्माण हो सकता है। सत्यजीत रे 'शतरंज के खिलाड़ी' की तुलना में ज्यादा वैलेंस्ड और रिलेभेंट नजर आते है। इस सन्दर्भ में यतींद्र मिश्र ने लिखा है–'सद्गति के पात्रों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वे सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने बने–बनाए सीमांतों के पार जाते है। प्रेमचन्द जिस प्रगतिशीलता को अपने लिए तार्किक ढग से जीवन पर पकड़े रहे, सत्यजीत रे ने उन अवसरों के फील्मांकन के लिए कोई सरलीकरण नहीं किया है। वे बेहद गम्भीरता के साथ दुःखी, झुरिया और पंडित के चरित्र को व्याख्यापित करते हैं। कहना चाहिए कि यहां प्रेमचन्द की साहिहत्यिक मान्यताओं को बड़े सतर्क ढंग से पढ़ते हुए निर्देशक कहानीकार की संवेदना के तो निकट पहुँचता ही है, बल्कि वह मृणाल सेन की उस ध्रु

वाम प्रतिबद्धता के समीप भी खड़ा नजर आता है, जो उसका अपना विशिष्ट स्वर नहीं रहा है। सत्यजीत रे, प्रेमचन्द की कहानी में कोई भी परिवर्तन नहीं करते, बल्कि शीर्शक से लेकर अन्त तक, पंक्ति दर पंक्ति वे लेखक का अनुसरण करते हैं, जिससे कहानी के सम्पूर्ण आक्रोश को एक बृहत्तर अइायाम दिया जा सकें।

प्रेमचनद के साहित्य पर बनी फिल्मों में पारम्परिक समाज और समकालीन व्यार्थ की टकराहट देखी जा सकती है। एक अमूर्तत की तरह का खिंचवा जिससे पात्रों का चित्रांकन मूल्यवान अभिप्राय हासिल करता है। यह स्थिति फिल्म में बिम्बों की सार्थक उपस्थिति, दर्शकों का सहज जुड़ाव और मानवीय संवेदनाओं के सृजनात्मक अंकन से अपना फलक विस्तृत करती है। धनिया, दुखी, झुरिया, पड़ित घासीराम जैसे चरित्र इन्हीं वजहों से 'सद्गति' को एक अर्थपूर्ण फिल्म बनाते है। फिल्म में प्रेमचन्द की भाषा संवेदना को उकेरने के लिए जो ढ़ेरों विम्ब व प्रतीक सत्यजीत रे ने इकट्ठे किये, उनेक पीछे साहित्यिक समझ भी है। जैसे–हँसिया का बिम्ब, महुआ के पत्तों का बिम्ब, तिलक का बिम्ब, रावण के पुतले का बिम्ब, झोपड़ी की छत पर बिछी खाल का बिम्ब आदि कहानी की मूल संवेदना को सिनेमाई भाषा और तकनीकी कौशल के साथ एक नये अर्थ में खड़ा करते है। फिल्म में एक जगह हम देखते हैं कि ब्राह्मण मुर्दे को इसलिए घसीटकर अलग कर देता है, क्योंकि शव दुखिया चमार का है, जिसे अछूत हटाने से इंकार कर देते हैं। यहाँ सत्यजीत रे ने सवर्ण (शोषक) अछूत (शोषित) के बीच द्वन्द्वको तटस्थता के साथ दिखाया है। कहने का अर्थ है कि प्रेमचन्द का साहित्य अपने समय के सामाजिक यथार्थ के साथ सिनेमा में पुनः रचा जा रहा है।

साहित्य लेखन में लेखक स्वतंत्र होता है, जबकि सिनेमा को मोटे तौर पर पांच भागों में बाँटा जा सकता है – स्क्रिप्ट राइटिंग, सिनेमाटोग्राफ़ी, एडीटिंग, अदाकारी और निर्देशन। ऐसे में एक साहित्यिक रचना को सिनेमा तक का सफर तय करने में कई स्तरों से होकर गुज़रना पड़ता है। अतः साहित्यिक रचना के स्वरूप में बदलाव स्वाभाविक है। प्रेमचन्द साहित्य में ऐसे बदलाव से वाकिफ़ थे, क्योंकि, उन्होने अजन्ता सिनेटोन कम्पनी में काम किया था।

प्रेमचन्द की कालजयी रचना 'कफन' पर मृणाल सेन ने 'ओका ओरी कथा' नाम से फिल्म बनाई। जिसे राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। इस फिल्म में मृणाल सेन कहानी का अन्त बदल देते हैं, जो उनकी अपनी फिल्म की पृष्ठभूमि को ज्यादा स्वीकार्य लगता है। ऐसा वे इसलिए करते हैं कि यह फिल्म तेलंगाना की पृष्ठभूमि को अधार बनाती है। प्रेमचन्द के घीसू–माधव इसमें वैंकैय और किस्तिया में बदल जाते हैं। इस फिल्म में 'कफन' कहानी की मार्मिकता को बचा लिया गया है। मृणाल सेन स्वीकारते हुए कहते हैं–'कफ़न जाड़े के समय को दर्शाने वाली कथा है–तेलंगाना में काफी गर्मी पड़ती है। मेरा तर्क था कि गरीबी और शोषण तो ऋतु–निरपेक्ष है। शीतकाल हो या ग्रीष्मकाल हर समय गरीबी और शोषण की यही दशा होती है। मुंशी प्रेमचन्द ने गरीबी और शोषण पर फोकस किया था, इसलिए मैंने फिल्म में उसी पर फोकस किया। प्रेमचन्द के बेटे अमृतराय ने यह फिल्म देखी तो प्रभावित हुए। उन्होंने कहा कि फिल्म बहुत इंप्रेस्ड है, पर जो इंटरपिटेशन है, उससे वे सहमत नहीं है। मैंने अमृत राय से कहा कि यदि मुंशी प्रेमचन्द भी आज जीवित होते, तो यही कहते कि फिल्म से डीपली इंप्रेस्ड हैं, पर इंटरप्रिटेशन से एग्री नहीं है। इंटरप्रिटेशन का अधिकार मुझे है। यह अधिकार मुझेरा मेरा समय देता है। मैं एक जगह से कहानी ले रहा हूँ। एक समय की बात कहने जा रहा हूँ। जब उसे अपने समय के मुताबिक तैयार करूँगा, तो परिवर्तन करना ही होगा। सिनेमा की भाशा अलग होती है–यह बात तो सभी कहते हैं। मैंये नही कहूँगा। मैं फिल्म को अपने समय से जोड़ता हूँ। सांप्रतीक चिन्तन को उस पर रखता हूँ।'

यहाँ एक बात गौर करने वाली है कि एक समय के दो बड़ें फिल्मकार प्रेमचन्द की कहानी के

साथ भिन्न व्यवहार करते हैं। जहाँ मृणाल सेन ने 'कफन' कहानी की पटकथा को बदल दिया है, वचही पर सत्यजीत रे ने प्रेमचन्द्र की प्रगतिशील तार्किकता को पड़े रखा है और कहानी में बिना परिवर्तन के लेखन के मुख्य कथ्य को ही प्राथमिकतदा दी है।

'गबन' और 'गोदान' प्रेमचन्द की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। फिल्मकार त्रिलोक जेटली ने सन् 1963 में 'गोदान' पर तथा कृश्ण चोपड़ा एवं हृशिकेश मुखर्जी ने 1966 में 'गबन' पर फिल्में बनाईं। 'गोदान' पर बनी फिल्म औसत रही। इस फिल्म में लोकजीवन से जुडे गीतों को फिल्माया गया है, जो कर्णप्रिय होने के साथ–साथ असरदार भी हैं। मुझे लगता है कि फिल्मकार को 'गोदान' की पृष्ठभूमि में रहे पूर्वी उत्तर प्रदेश के समाज की परख थी। वे वहाँ की परम्पराओं को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत कर दर्शकों को एकरसता और साहित्यिक गम्भीरता से बचा लेते हैं। इन गीतों को पंडित रविशंकर ने रचा है।

'जाने काहे जिया मोरा डोले रे', 'जनम लियो ललना कि चाँद मोरे अँगना उतरि आए हो', 'होली खेलत नन्दलाल बिरज में', 'पिपरा के पतवा सरीखे डोले मनवा, जैसे गीतों में उस समाज के हर्ष–उल्लास दुःख–अभाव, आकांक्षा सब तितरे नजर आते हैं। इन लोकगीतों पर आधारित गीतों को रफी, महेन्द्र कपूर, गीता दत्त, लता मंगेशकर और साथियों ने गाया है। प्रेमचन्द की एक कहानी है 'दो बैलों की कथा'। यह एक किसान परिवार और उसके सन्तानों की तरह प्यारे दो बैलों की मार्मिक कथा–रचना है, जिसे कृष्ण चोपड़ा ने 'हीरा–मोती' नाम से रजतपट पर पेश किया। इसमें बलराज साहनी और निरूपा राय की प्रमुख भूमिकाएँ थी। देहाती अन्दाज में लिखे और उसी तरह के संगीत से सजाए गए गीतों में जो गीत सबसे अधिक लोकप्रिय होकर आज तक सदाबहार है, वह इस प्रकार है–

'ओ बेदर्दी आ मिल जल्दी, मिलने के दिए आए कि तेरे बिन अब तो रहा न जाए

बन के बदरिया वन में कोयलिया डार–डार चिल्लाए कि तेरे बिन अब तो रहा न जाए।''

यॉनी फिल्मकारों ने प्रेमचन्द की रचना में बसे समाज के बीच प्रचलित लोकप्रिय लोकगीतों को रूपहले पर्दे पर उतारकर फिल्म को मनोरंजन एवं लोक रूचि से भी जोड़ा है।

प्रेमचन्द के 'गबन' पर बनी फिल्म ज्यादा प्रभावकारी नहीं रही। चूँकि यही फिल्मकार नायिका की मनःस्थिति की सूक्ष्मता को जिसे प्रेमचन्द ने शब्दों से सफलतापूर्वक व्यक्त किया है, नहीं पकड़ पाते हैं। यह फिल्म थोड़ी कमज़ोर है। कारण यह है कि उपन्यास पर फिल्म निर्माण थोड़ा कठिन है। इस सन्दर्भ में जे0सी0 मेयर ने लिखा है –'हमारी आँख हमारे दिमाग के मुकाबले कमज़ोर है, क्योंकि जिस तरह हमारी कल्पना चित्र प्रभाव को पकड़ कर रहती है, हमारी आँख उसे पकड़ कर नही रहती। शब्द प्रतीकों की भाँति इंद्रिक प्रभाव हमारी स्मृति के सामान्य भंडार में जमा किए जा सकते हैं..... मानसिक स्थितियों–स्मृतियों–स्मृति, स्वप्न कल्पनाओं का फिल्म द्वारा उचित अनुवाद उसी तरह नहीं हो सकता, जिस तरह की भाषा के द्वारा किया जा सकता है। यदि चेतना के प्रभावों को प्रस्तुत करने में फिल्म को कठिनाई होती है, तो मस्तिष्क की स्थितियों को प्रस्तुत करना, तो और भी कठिन है।' ऐसे में मनोविज्ञान की समझ की स्थितियों को प्रस्तुत करना तो और भी कठिन है।' ऐसे में मनोविज्ञान की समझ का अभाव और कथामर्म को बेहतर ढंग से प्रस्तुत न कर पाने के कारण यह फिल्म प्रभावी नही बन सकी।

साहित्यिक फिल्मों के संदर्भ में एक बात कहना चाहता हूँ कि जिस वर्ग को आधार बनाकर साहित्य लिखा गया, उस वर्ग के लोग अपने जीवन के सच को सिनेमा में नहीं देखना चाहते हैं। ये दर्शक अपने जीवन का झूठ देखने के लिए उत्सुक रहते हैं। अधिकांश दर्शक समाज के यथार्थ की दुनिया से अलग कल्पना–लोक में आश्वासन पाकर प्रसन्न होता है। वह सिनेमा को विचार की जगह मनोरंजन और चमत्कार की तरह देखता है। फिल्म कथाएँ झूठ बोलकर जीवन को पूर्ण और पुनत्पादन

के लिए उर्वर बनाती हैं।

प्रेमचन्द कला को जबरन थोपने के खिलाफ हैं। ये मानवता के साथ–साथ साहित्य के श्रेष्ठतम आदर्शों की रक्षा में विश्वास करते थे और दोनों को एक–दूसरे के लिए जरूरी मानते थे। जन–जीवन के लिए जहाँ उनके मन में गहरी हमदर्दी थी, वही कला को उसके उच्चतम शिखर पर ले जाने की ईमानदार बेचैनी थी।

उन्होंने सिनेमा को साहित्य के आदर्शों का एक्स्टेंशन कॉर्ड बनाना चाहते थे, तॉकि दर्शक सुरूचिपूर्णा मनोरंजन से स्वंय को जोड़ सकें।

प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में जिन समाजिक बुराईयों, अनैतिकताओं, अशिक्षा, अन्धविश्वास, आर्थिक विषमताओं, आत्मिक और भौतिक स्तर पर शोषण आदि को उछाया है, यहाँ गौर करने वाली बात यह है कि प्रेमचन्द की इन्हीं समस्यापरक रचनाओं पर ही फ़िल्में बनी। यॉनी जहाँ असन्तोष, संघर्ष, दु:ख, अभाव ग़रीबी, शोषण के चित्र ज्यादा है।

ऐसे में दर्शकों का बड़ा वर्ग मनोरंजन के स्तर पर इन विषयों से और छोटा वर्ग जो साहित्य और सिनेमा की समझ रखता है, वह मूल्य के स्तर पर जुड़ पाता है।

प्रेमचन्द का सहित्य और सिनेमा का यह सम्बन्ध निश्चित तौर पर हमें आश्वस्तर करता है कि कला का उद्देष्य महज मनोरंजन नहीं होना चाहिए। सिनेमा का असर करोड़ों लोगों के जीवन पर पड़ता है। ऐसे में व्यावसायकि फ़िल्मों को पूरी तरह से सामाजिक मूल्यों के बाज़ार के अनुरूप नहीं गढ़ना चाहिए और न कलात्मक फ़िल्मों को बौद्धिक कसरत करना चाहिए। प्रेमचन्द जिस तरह से साहित्य के जरिये समाज में स्वीकार्य है, उसी तरह सिनेमा को भी झूठ, मक्कारी, अश्लीलता, उत्तेजना, अपसंस्कृति आदि को विसर्जित करना होगा। आनन्द को तर्क सहमति और सामाजिक सरोकारों से जोड़ना होगा तभी प्रेमचन्द की भावना का प्रतिबिम्ब सिनेमा में दिखेग।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शंभूनाथ, हिन्दी सिनेमा का सच, अंक 17, प्रकाशन वर्ष–1997, प्रेमचन्द सिनेमा और समाज, प्रकाश–वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 6.
2. कुमार, राजेन्द्र, (सं.) बहुवचन, अंक–22, जुलाई–सितम्बर, यतींद्र मिश्र सेल्यूलाइड पर प्रेमचन्द के पात्रों की पुनर्रचना प्रकाशन, महात्मा गांधी अन्तराराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, पृ. 99.
3. नारायण कुँवर, आज और आज से पहले, पहला संस्करण–1998, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पृ. 223.
4. वही, पृ. 226.
5. कुमार, राजेंद्र, (सं.) बहुवचन, अंक–22, जुलाई–सितम्बर, यतींद्र मिश्र सेल्युलाइड पर प्रेमचन्द है पात्रों की पुनर्रचना प्रकाशन, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा पृ0 101.
6. नारायण कुँवर, आज और आज से पहले, पहला संस्करण–1998, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पृ0 227.
7. कुमार, राजेन्द्र (सं0) बहुवचन, अंक–जुलाई–सितम्बर, यतींद्र मिश्र सेल्युलाइड पर प्रेमचन्द के पात्रों की पुनर्रचना प्रकाशन, महात्मा गांधी, अन्तराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, पृ0–103.
8. वही पृ0 102.
9. काजमी स्वामी बहिद–सिने संगति का इतिहास, प्रथम संस्करण–2015, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ0 108.
10. तिवारी श्रीराम, आजमी प्रभुनाथ सिंह, विश्व सिनेमा का सौन्दर्यबोध, प्रथम संस्करण : 2015, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ पृ0 83